

अपने बारे में जानकारी होना अपने को जानना नहीं होता, बल्कि अपने विचार की हर हरकत को जानना अपने को जानना है...

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

सितम्बर २०११

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

वार्षिक शुल्क : रु. १००.००
दो वर्ष : रु. १७५.००
पांच वर्ष के लिए : रु. ४००.००
आजीवन : रु. १०००.००

संपादक : विजय छाबड़ा

इस अंक में :

स्वयं को पहचानना	पृष्ठ संख्या
स्वयं को कैसे जाना जा सकता है	३
द्विभाषी उद्धरण	२४
	बीच के पन्ने

खंड दो	
सूचना	३१

अनुवाद : अचलेश, अरविन्द

स्वयं को पहचानना

पुपुल : सर, मेरे विचार से सबसे पहले हमें खुद को जानने के बारे में कुछ विमर्श करना चाहिए। काफी समय से हमने इस विषय पर चर्चा नहीं की है।

कृष्णमूर्ति : आइए इस पर चर्चा कर लेते हैं। 'स्वयं को जानना'—इस पर सुकरात और उससे भी पहले अनेक विचारकों द्वारा काफी कुछ कहा गया है। तो स्वयं को जानना क्या होता है? आप स्वयं को कैसे जानेंगे? यह स्वयं को जानना आखिर होता क्या है? क्या आप अनुभव को देख-देख कर स्वयं को जानते हैं; किसी एक विचार को देख कर और फिर उस विचार से दूसरे विचार को पैदा होते देख कर स्वयं को जानते हैं, किंतु हम पहले वाले विचार को आसानी से जाने देना नहीं चाहते, और इसीलिए पहले और दूसरे विचार के बीच खंड रहता है? या, स्वयं को जानना पहले विचार को छोड़ देना और दूसरे के पीछे दौड़ पड़ना है और फिर दूसरे को छोड़ देने से उपजे तीसरे विचार के पीछे लग जाना है, और तीसरे को भी छोड़ कर चौथे के पीछे लग जाना है ताकि विचार के प्रवाह की सचेतता और सजगता निरंतर बनी रहे? आइए, इसमें थोड़ा आगे बढ़ते हैं। मैं स्वयं को ईर्ष्यालु होते देखता हूँ। ईर्ष्या की सहज प्रतिक्रिया होती है स्वयं को सही ठहराना। इस सही ठहराने के चक्कर में मैं ईर्ष्या को भुला देता हूँ या एक तरफ़ रख देता हूँ। इस तरह मैं सही ठहराने में, शब्द-जाल में, परखने की क्षमता में और फिर उसे दबाने में ही उलझा रह जाता हूँ। इस पूरे प्रवाह को मैं एक ही मामले की तरह देखता हूँ। फिर, इससे पलायन कर जाने की इच्छा पैदा हो जाती है। मैं उस इच्छा, उस पलायन को भी परखता हूँ। यह पलायन है कहां के लिए?

पुपुल : कभी-कभी यह पलायन ध्यान की ओर जाता है।

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल, वह सबसे अच्छी तरकीब है—ध्यान में जाना। तो, मेरा प्रश्न है, ध्यान क्या है? क्या यह 'जो है' से पलायन है? क्या यही ध्यान है? यह ध्यान नहीं है बल्कि पलायन है। अब मैं वापस जाता हूँ और अपनी ईर्ष्या का अध्ययन करता हूँ : मैं ईर्ष्यालु क्यों हूँ? क्योंकि मुझमें आसक्ति है, क्योंकि मैं महत्त्वपूर्ण हूँ, इत्यादि। यह पूरी प्रक्रिया सच्चाई उजागर करने वाला अनुभव है। अब मैं मुद्दे पर आता हूँ : जांचकर्ता या अवलोकनकर्ता क्या उस चीज़ से अलग है जिसका अवलोकन किया जा रहा है? निश्चय ही ऐसा नहीं है। अर्थात्, वास्तविक अवलोकन वहाँ होता है जहाँ अवलोकनकर्ता नहीं होता।

पुपुल : आपने कहा कि 'निश्चय ही ऐसा नहीं है'। इसमें थोड़ा गहराई तक जाएं।

कृष्णमूर्ति : अवलोकनकर्ता अतीत होता है; वह अतीत ही है—स्मृति के भंडार में जमा यादें, अनुभव, ज्ञान यानि जानकारियाँ। यह अतीत ही है जो अवलोकन कर रहा होता है, देख रहा होता है, और उसी अतीत से मैं वर्तमान को अर्थात् अपनी ईर्ष्या को, अपनी प्रतिक्रिया को देख रहा होता हूँ। और मैं इस 'ईर्ष्या' शब्द को उस अनुभूति के लिए प्रयोग इसलिए करता हूँ क्योंकि इसे मैं पहले हो चुकी अनुभूति के रूप में पहचान जाता हूँ। यह उस शब्द के माध्यम से उस ईर्ष्या को याद करना है जो अब अतीत का अंग बन चुकी है। तो, क्या मैं कोई शब्द या नाम दिए बिना और किसी अवलोकनकर्ता के बिना भी अवलोकन कर सकता हूँ? क्या यह शब्द है जो उस अनुभूति को ले आता है या फिर यह अनुभूति है जो उस शब्द को ले आती है? यह सब स्वयं को जानने का हिस्सा है।

पुपुल : कोई शब्द के बिना अवलोकन कैसे करे?

कृष्णमूर्ति : बिना अवलोकनकर्ता के, बिना स्मृति के। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

पुपुल : कोई इस अवलोकनकर्ता की पहली को सुलझाए कैसे?

अच्युत : क्या ऐसा नहीं है कि अवलोकनकर्ता को देखने में स्वयं अवलोकनकर्ता का अनुमोदन करना या अनुमोदन न करना शामिल रहता है?

कृष्णमूर्ति : वह अतीत ही तो है। वह संस्कार और प्रभाव ही तो है। वह अतीत की ही सारी गतिविधि है जो अवलोकनकर्ता में भरी हुई है।

अच्युत : वह भर्त्सना, वह हिकारत से देखना ही बाधा है।

कृष्णमूर्ति: पुपुल भी यही पूछ रही हैं। उनका प्रश्न है : मैं अवलोकनकर्ता को कैसे देखूं? अवलोकनकर्ता को देखने का ढंग क्या है? मैं 'के' को कहते सुनती हूं कि अवलोकनकर्ता तो अतीत है। क्या ऐसा है?

परचुरे : ऐसा प्रश्न उठाने पर हम एक और अवलोकनकर्ता बना डालते हैं।

कृष्णमूर्ति : नहीं, मैं कुछ भी निर्मित नहीं कर रहा हूं। मैं तो केवल अवलोकन कर रहा हूं। प्रश्न है : यह अवलोकनकर्ता है क्या? यह अवलोकनकर्ता है कौन? मैं इस माइक्रोफोन को किस तरह देखता हूं? मैं इसे उस शब्द के माध्यम से देखता हूं जिसे हम यह बताने के लिए प्रयोग करते आए हैं कि यह माइक्रोफोन है; यह मेरे मस्तिष्क में एक माइक्रोफोन के नाम से दर्ज है—एक स्मृति के रूप में; मैं इस शब्द को यह तथ्य बताने के लिए प्रयोग करता हूं कि यह माइक्रोफोन है। यह बात बिल्कुल सीधी और सरल है।

पुपुल : क्या हम अवलोकनकर्ता का अवलोकन करते हैं, उसे देखते हैं?

कृष्णमूर्ति : मैं उसी बात पर आ रहा हूँ। आप अवलोकनकर्ता को कैसे देखते हैं? दरअसल आप देखते ही नहीं।

पुपुल : क्या यह अवलोकनकर्ता को देखने की हमारी अक्षमता है जो हमें उसकी प्रकृति की समझ देती है?

कृष्णमूर्ति : नहीं, आप अवलोकनकर्ता को देखते ही नहीं हैं। आप तो केवल 'जो है' को और अवलोकनकर्ता के हस्तक्षेप को देखते हैं। आप कहते हैं कि आप अवलोकनकर्ता को पहचानते हैं। यह अंतर देखा आपने? ज़रा संभल कर चलें। मुझमें ईर्ष्या है। अवलोकनकर्ता प्रकट होता है और कहता है, 'मैं अतीत में भी ईर्ष्यालु रहा हूँ और मुझे ईर्ष्या की भावना का एहसास है।' इस तरह मैं उसे पहचान जाता हूँ कि यह अवलोकनकर्ता है। आप अवलोकनकर्ता को तनहा या उसके अपने तई देख ही नहीं सकते। अवलोकनकर्ता को केवल अवलोकित की जा रही चीज़ से जुड़े हुए ही देखा जा सकता है। अवलोकनकर्ता जब अवलोकन को आकर्षित कर लेता है तब हम अवलोकनकर्ता का होना जान पाते हैं। आप अवलोकनकर्ता को तनहा और उसके तई देख ही नहीं सकते। आप उसे किसी चीज़ के साथ या किसी चीज़ के संदर्भ में ही देख सकते हैं। यह बात बिल्कुल साफ़ है। किसी भावना के पलों में न तो अवलोकनकर्ता रहता है और न ही अवलोकित, उस समय भावना की केवल वह अवस्था रहती है। फिर प्रवेश करता है अवलोकनकर्ता और बताता है—यह ईर्ष्या है, और फिर वह 'जो है' के साथ हस्तक्षेप करना शुरू कर देता है, वह उससे दूर भागता है, उसका दमन करता है, उसका औचित्य सिद्ध करने का और उसे सही ठहराने का प्रयास करता है, या उससे पलायन कर जाता है। ये गतिविधियाँ 'जो है' के साथ

अवलोकनकर्ता के संबंध को दर्शाती हैं।

फिज़ : जिस पल अवलोकनकर्ता मौजूद हो उस पल में क्या उसे देख पाना संभव होता है?

कृष्णमूर्ति : हम यही बात कर रहे हैं। मैं क्रोध में हूँ या हिंसक हो उठा हूँ। हिंसा के उस पल में कुछ नहीं होता। न तो आप वह अवलोकनकर्ता के रूप में वहाँ मौजूद रहते हैं और न ही वह चीज़ जिसका अवलोकन किया जाना है। उस समय तो वहाँ बस हिंसा की अवस्था रहती है। फिर विचार प्रवाह अर्थात् अवलोकनकर्ता प्रवेश करता है। विचार केवल अतीत होता है—कोई विचार नया-नूतन नहीं होता—और ऐसा अतीत रूपी विचार वर्तमान को अपने हाथ में ले लेता है। वर्तमान को अपने हाथ में ले लेने वाला ही अवलोकनकर्ता बन जाता है और आप उस अवलोकनकर्ता की जांच-परख केवल उसके इस हस्तक्षेप के माध्यम से ही करते हैं। हिंसा में जो कुछ भी असंगत और अविवेकपूर्ण है, उससे वह पलायन करने का, या उसे सही सिद्ध करने का, या ऐसा ही कुछ करने का प्रयास करता है। यह सब परंपरागत तरीका है और यह परंपरागत तरीका ही अवलोकनकर्ता बन जाता है।

पुपुल : तो, एक तरह से, अवलोकनकर्ता वर्तमान से पलायन के रूप में ही प्रकट होता है।

कृष्णमूर्ति : हां, पलायन में या सही सिद्ध करने में।

देशपांडे : या दखल अंदाज़ी।

कृष्णमूर्ति : वर्तमान के साथ दखल अंदाज़ी का कोई भी रूप अवलोकनकर्ता की ही हरकत होती है। इस बात को स्वीकार मत कर लीजिए। इसके अंजर-पंजर खोल कर असलीयत ढूँढ निकालिए।

परचुरे : यदि कोई अतीत न हो तो यह दखल अंदाज़ी भी

नहीं होगी।

कृष्णमूर्ति : नहीं, मुद्दा यह नहीं है। अतीत क्या है?

परचुरे : अपने अनुभव की संचितकर रखी हुई बातें।

कृष्णमूर्ति : अर्थात्? आपके अनुभव, आपकी पसंद-नापसंद की बातें और आपके हेतु—यह सब अतीत की गति ही तो है, और यही ज्ञान है। अतीत की गति केवल ज्ञान के मार्फत हो सकती है, यानि ज्ञान अतीत ही है। तो, अतीत वर्तमान में दखल देता है; यानि अवलोकनकर्ता कमान संभाल लेता है। अगर कोई दखल अंदाज़ी न हो, अगर कोई अवलोकनकर्ता न हो, तब रहता है केवल अवलोकन।

अवलोकन में न तो अवलोकनकर्ता रह जाता है और न ही अवलोकन करने का विचार। इसे समझ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अवलोकन में न तो अवलोकनकर्ता रहता है और न ही अवलोकनकर्ता के न होने का विचार रहता है; अर्थात् वहां केवल विशुद्ध अवलोकन रह जाता है, बिना किसी शब्द के और बिना अतीत की किसी याद या जुड़ाव के। तब कुछ भी नहीं रहता, तब अवलोकन और केवल अवलोकन रह जाता है।

फित्ज़ : ऐसी अवस्था में, क्या अवलोकनकर्ता को देख पाना संभव है?

कृष्णमूर्ति : नहीं, मैंने कहा है: अवलोकनकर्ता द्वारा किया जाने वाला अवलोकन होता ही तब है जब अतीत दखल अंदाज़ी कर रहा होता है। अतीत ही वह अवलोकनकर्ता बना होता है। अतीत जब वर्तमान में दखल अंदाज़ी कर रहा होता है तब अवलोकनकर्ता हरकत में आ जाता है। यही वह अवस्था होती है जब आप को अवगत हो जाता है कि वहां एक अवलोकनकर्ता मौजूद है। किंतु जब आप यह देख व समझ लेते हैं, जब आप

इसमें झांक लेते हैं, फिर वहां कोई अवलोकनकर्ता नहीं रह जाता, फिर वहां केवल अवलोकन रह जाता है।

तो क्या मैं 'कोई ऑथोरिटी नहीं' का इसे बिना किसी संदर्भ से जोड़े, शुद्ध रूप से, अवलोकन कर सकता हूं, इसलिए नहीं कि आपने ऐसा कहा है?

पुपुल : नहीं, मैं तो एक ही चीज़ को देख रही होऊंगी: ऑथोरिटी की गति को। 'किसी ऑथोरिटी का न होना' तो मैं कभी देख ही नहीं सकती।

कृष्णमूर्ति : बेशक नहीं। लेकिन ऑथोरिटी दीखती है, जैसे कि इस मांग में कि कोई हमें मुक्ति दिला दे, और जब हम किसी का सहारा ढूंढने लगते हैं, किसी और पर निर्भर करने लगते हैं—यह सब ऑथोरिटी का ही कारोबार है। अब क्या यह ऑथोरिटी मेरे दिलोदिमाग में, मेरे वजूद में छापी हुई है, हरकत में है? अनुभव, अतीत से खुराक पाती जानकारी, एक दूरदर्शी आभास (विज्ञान)—ये सब उसी के नाना रूप हैं। विचार की गति में निहित ऑथोरिटी, सत्ता क्या हमें दीख रही है?

पुपुल : महत्त्वपूर्ण क्या है? क्या अपने मन के, अपनी चेतना के हर पल का अवलोकन करना, या अपने मन में सत्य का या आप जो कह रहे हैं उसकी वास्तविकता की खोज करना? यह बहुत सूक्ष्म बात है। मुझे समझ नहीं आ रहा मैं इसे कैसे व्यक्त करूं।

सुनंदा : उदाहरण के लिए, क्या इसे इस तरह कहा जा सकता है? मैं अपनी टेस को देखती हूं।

कृष्णमूर्ति : आप टेस को क्या इसलिए देख रही हैं क्योंकि 'के' ने इसे देखने को कहा है?

सुनंदा : मैं देखती हूं कि मैं आहत हूं, मुझे टेस लगी है। मैं टेस को उभर कर आते हुए देखती हूं। इस टेस का अवलोकन

कुछ ऐसा है जिसे मैं स्वयं को जानने के एक अंश के रूप में ले सकती हूँ। किंतु इसमें मैं 'ऑथोरिटी' को कहां रच रही हूँ? जब कृष्णजी कहते हैं, 'जब आप टेस को देख लेते हैं तो वह खत्म हो जाती है', तभी मैं ऑथोरिटी को रच रही होती हूँ। तभी मैं एक अवस्था की रचना कर रही होती हूँ, एक अवस्था की ओर चल रही होती हूँ, क्योंकि मैं टेस के निरंतर अवलोकन के चंगुल में फंसना नहीं चाहती। किंतु चेतना में अन्य अनेक कारक भी मौजूद रहते हैं। मैं देखती हूँ कि टेस का अवलोकन करने के बजाय मैं एक व्यक्ति को यह कहते सुन रही होती हूँ कि बिना अवलोकनकर्ता के टेस का अवलोकन करने से टेस का अवसान हो जाना है। और, यहीं मैं ऑथोरिटी को रच रही होती हूँ।

कृष्णमूर्ति : मैं समझ रहा हूँ। मैं टेस का तथा इसके तमाम परिणामों का अवलोकन करता हूँ, और यह भी कि वह टेस पैदा कैसे हुई, वगैरह वगैरह। मैं उस टेस की पूरी प्रक्रिया से अवगत हूँ, सजग हूँ किंतु अपने मन में मैं 'के' को यह कहते भी सुनता हूँ—यदि एक बार आप इस टेस को सकल और समूचे रूप में देख लें तो इसका अवसान हो जाता है, खात्मा हो जाता है, फिर आपको कभी टेस नहीं लगती। ऐसा उन्होंने कहा है।

सुनंदा : यह बात मेरे चेतन मन में रहती है।

कृष्णमूर्ति : आपके चेतन मन में क्या रहता है? शब्द?

सुनंदा : शब्द के अलावा वह अवस्था जो उन्होंने अपनी बात बताते हुए हम तक पहुंचाई, क्योंकि जब 'के' बता रहे होते हैं तब वह एक ऐसी 'अवस्था' की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं जो शब्दों से परे होती है।

कृष्णमूर्ति : सुनंदा, देखो, मैं आहत हुआ हूँ, मुझे टेस लगी है। मैं अपनी टेस को जानता हूँ। तुम्हारी बात सुनकर मैं इसके परिणामों को देखने लगता हूँ—अंतर्मुखी हो जाना, अलग-थलग

हो जाना, हिंसक हो उठना—मैं यह सब देखने लगता हूँ। क्या मैं इसे इसलिए देख पाता हूँ क्योंकि मुझे आपने यह सब बताया है? या, मैं इसे देख लेता हूँ भले ही आपने मुझे यह सब बताया हो?

सुनंदा : देखा जाए तो तथ्य तो यही है, आप मेरे जीवन में आए हैं और मैंने आपको सुना है।

कृष्णमूर्ति : तो प्रश्न यह पैदा होता है कि 'के' का कहना है कि यदि आप इसे पूरी तरह, समूचे रूप में देख लेते हैं तो सारी की सारी टेस तिरोहित हो जाती है। इसमें ऑथोरिटी कहाँ है?

सुनंदा : ऑथोरिटी इसमें है क्योंकि यह एक ऐसी अवस्था के बारे में निश्चयपूर्वक बताती है जिसे मैं पाना चाहती हूँ।

कृष्णमूर्ति : तो उस अवस्था का अध्ययन व जांच-परखा कीजिए जो महत्त्वाकांक्षा है, जो इच्छा है।

पुपुल : मैं आपके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'होलिस्टिक' (समूचा) पर ठहरना चाहूंगी, और उस बात के बारे में भी कुछ पूछना चाहूंगी जो आपने कही है : 'क्या आप टेस को थामे रखते हुए उसके साथ बने रह सकते हैं—अर्थात्, ऐसे समूचेपन में रह सकते हैं?' इस थामने में क्या शामिल है?

कृष्णमूर्ति : मैं आहत हुआ हूँ, मुझे टेस लगी है। मैं जानता हूँ कि मुझे टेस लगी है। मैं अपनी उस छवि से भी अवगत हूँ जिसे टेस लगी है, और इस टेस के परिणामों को भी मैं जानता हूँ यानि पलायन, हिंसा, संकीर्णता, भय, अलगाव, उदासीनता, व्यग्रता, और इसी तरह की तमाम चीज़ें। मैं इनके प्रति सजग कैसे हुआ? क्या इसलिए कि आपने मुझे यह सब बता दिया था? या मैं इसके प्रति सजग हूँ, मैं इसे देखता हूँ, और मैं आपके साथ

साथ चल रहा हूँ? ऐसे में कोई ऑथोरिटी नहीं रहती। जो कुछ आप कह रहे हैं मैं उससे अलग नहीं रहता हूँ। यही है समझने वाली बात।

सुनंदा : एक बिंदु तक तो आपके साथ चलना होता है।

कृष्णमूर्ति : मैं आपके साथ चल रहा हूँ।

देशपांडे : तो आपका कहा एक संकेतक की तरह रहता है।

कृष्णमूर्ति : नहीं, नहीं।

सुनंदा : जब तक मैं आपके साथ चलती हूँ तो एक संबंध रहता है।

कृष्णमूर्ति : जब मैं संबंध तोड़ देता हूँ तब मेरा प्रश्न उठ खड़ा होता है: मैं यह कैसे करूँ? जो आप कह रहे हैं यदि मैं हू-ब-हूँ उसके अनुसार चल रहा हूँ—यह देखता हुआ कि छवि को ही टेस लगी है और फिर होता है पलायन, हिंसा—तो मैं आपके साथ चल रहा हूँ। यह एक वाद्यवृंद की तरह है, एक आर्केस्ट्रा की तरह है, शब्दों का आर्केस्ट्रा, अनुभूतियों का आर्केस्ट्रा, जिसमें सब कुछ एक साथ चल रहा होता है। जब तक मैं आपके साथ चल रहा होता हूँ तब तक कोई विरोध नहीं रहता। फिर आप कहते हैं 'एक बार जब आप इसे समूचेपन में देख लेते हैं तो उसका अवसान हो जाता है'—तब क्या मैं आपके साथ रहता हूँ?

सुनंदा : ऐसा हुआ तो नहीं है।

कृष्णमूर्ति : मैं बताता हूँ कि क्यों। क्योंकि आपने सुना ही नहीं है।

सुनंदा : आपका मतलब है कि बीस वर्षों में मैंने सुना ही नहीं है?

कृष्णमूर्ति : इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, सुनने के लिए एक दिन भी काफ़ी है। आपने सुना नहीं है। आप केवल शब्द सुनती रही हैं, और उसके साथ अपनी प्रतिक्रिया को भी साथ लिए चलती रही हैं। आप 'के' के साथ नहीं चली हैं।

राधा : क्या उस सुनने और समूचेपन को देखने में कोई अंतर है?

कृष्णमूर्ति : नहीं। क्या आप बिना किसी दखल अंदाज़ी, बिना जांचने-परखने और बिना तुलना किए सुन सकते हैं?

राधा : बिना किसी अपेक्षा के।

कृष्णमूर्ति : कुछ नहीं। केवल सुनना। मैं सुन रहा हूँ। यह ऐसा है जैसे दो नदियां साथ-साथ बह रही हों और फिर एक नदी बन गई हों। किंतु मैं इस प्रकार नहीं सुनता हूँ। मैंने अभी आपको 'समूचापन' कहते सुना है और मैं उसे पाने की चाहना करने लगता हूँ। फिर मैं अब आप को नहीं सुन रहा होता हूँ क्योंकि मैं तो उस समूचेपन को चाह रहा हूँ।

राधा : तो क्या जो कुछ है उसके साथ कैसे रहा जाए, यह प्रश्न एक गलत प्रश्न है?

कृष्णमूर्ति : मैं उसके साथ रह रहा हूँ।

राधा : जी हां, किंतु यह प्रश्न स्वयं ही उसके साथ रहने से दूर ले जाने वाला है।

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल।

पुपुल : किसी में दुख की सघनता का भाव है और वह अवलोकन से यह भी देख लेता है कि दुख से दूर जाने की किसी भी गतिविधि से दुख में कोई कमी नहीं आती है। किसी संकट की घड़ी में ऊर्जा की सघनता रहती है तथा पूरी तरह से उस स्थिति के साथ बने रहने के लिए केवल एक ही कर्म-व्यवहार बचता है,

वह है संकट से पलायन करने से इंकार कर देना। क्या यह सही है?

राधा : क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति केवल उससे दूर जाने वाली हर गतिविधि को ध्यानपूर्वक देखे— और यह नहीं कहे कि मैं इसके साथ कैसे बना रहूं?

पुपुल : दुख का उफान उठता है और फिर आप उसमें डूब जाते हैं। जब यह बहुत गहरा होता है तब इसका यही तरीका रहता है। वह कौन सा व्यवहार है जो इसे छितराए बिना खिलने देगा?

कृष्णमूर्ति : यदि आप उसमें डूब जाते हैं, वास्तव में डूब जाते हैं, यदि आपका समूचा अस्तित्व उस अद्भुत ऊर्जा से भर जाता है जिसे दुख कहा जाता है और उससे बच निकलने का कोई मार्ग नहीं हो; किंतु इससे दूर जाने के लिए आप ज्यों ही किसी दिशा की ओर गति करते हैं, तो वह ऊर्जा छितरा जाती है। क्या आप उस ऊर्जा से पूरी तरह ओतप्रोत हैं जिसे दुख कहते हैं, या आपमें कहीं ऐसा कोई अंश विद्यमान रहता है जिसमें बच निकलने का कोई रास्ता उपलब्ध रहता है?

राधा : मुझे लगता है कि बच निकलने को कोई न कोई रास्ता हमेशा बना ही रहता है क्योंकि अपने पूरे अस्तित्व का किसी चीज़ से भरे जाने का भय रहता है। मुझे लगता है कि यही भय यहां भी है।

कृष्णमूर्ति : तो दुख ने आपके अस्तित्व को भरा नहीं है।

परचुरे : नहीं, इस तरह नहीं।

कृष्णमूर्ति : यह एक सत्य है। तो आप दुख के पीछे नहीं पड़े हैं बल्कि भय के पीछे पड़े हैं। जाने क्या होगा या इसी तरह की बातों का भय। तो आप इसी में उतरिए, दुख को भूल जाइए

Question : You have once said, 'Give your life to understand life.' What does it mean?

Krishnamurti : Sir, you have given your life to anything, your whole being to something? Have you given generously, completely to God, if you believe in God? Or, are you always giving a little, but withholding a great deal? To understand life, which is myself, the world around me, the beauty of the trees, to understand it, you must give something to it, learn from it. Obviously. Will you? Have you given your wife, your children, anything completely, or is there always a string attached to it? If you are rich, as some of you probably are, do you give generously, or do you always have a motive behind that generously? I watch people who are very rich, how extraordinarily miserly they are; they build temples. It is a crazy world. Sir, to understand life, one must be extraordinarily committed to life, to living, to understanding the beauty of living without conflict. And to understand conflict, you have to go into it, search it out, work, Nobody is going to help you; therefore you have to have extraordinarily strength. We are brave but not strong, right?

Madras 2nd Public Question & Answer Meeting
31st December 1981

प्रश्न : एक बार आपने कहा था कि जीवन को समझने के लिये अपना जीवन देना होगा। इस बात का क्या अर्थ है?

कृष्णमूर्ति : आपने क्या कुछ भी करने के लिये अपना जीवन, किसी भी कार्य हेतु अपना संपूर्ण अस्तित्व न्योछावर किया हुआ है? क्या आप कभी भी उदारतापूर्वक ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित हुए हैं, यदि आप ईश्वर में विश्वास करते हैं? या फिर आप हमेशा छुटपुट ही दे पाते हैं, खूब सारा हिस्सा अपने लिए संभालकर रखते हैं? जीवन को समझने के लिए, जो कि आप ही हैं, आपके चारों तरफ की दुनिया, वृक्षों की सुंदरता, इसे समझने के लिये आपको इससे सीखने के लिये, इसे कुछ तो देना ही होगा। वाकई, क्या आप दे सकेंगे? क्या आपने अपनी पत्नी, अपने बच्चे, कुछ भी पूरी तरह से दिया है या फिर आप हमेशा ही किसी बंधन, किसी बजह से बंधे हुए हैं? यदि आप अमीर हैं, जैसे कि आप में से बहुत हैं, क्या आप, जो भी करते हों उसे उदारतापूर्वक करते हैं या फिर उस उदारता के पीछे हमेशा ही आपकी कोई मंशा होती है, कोई हेतु रहता है? मैंने ऐसे भी लोग देखे हैं जो कि बहुत ही धनी हैं, साथ ही कितने कंजूस भी, वे पूजास्थल बनवाते फिरते हैं। यह दुनिया बहुत ही सनकी है। तो श्रीमान, जीवन को समझने के लिये, व्यक्ति को असाधारण रूप से जीने के लिये, वगैर किसी ढंढ के जीवन की सुंदरता को समझने के लिये जीवन के प्रति प्रतिबद्ध होना होगा। और ढंढ को समझने के लिये आपको उसमें पैठना होगा, उसके भीतर घुसना होगा, खोजना-बीनना होगा, उस पर काम करना होगा, वहां कोई आपकी मदद के लिये नहीं आएगा; उसके लिये आपमें असाधारण दृढ़ता की आवश्यकता है। हम बहादुर और साहसी तो हैं लेकिन हममें दृढ़ता नहीं है, मज़बूती नहीं है, ठीक?

चेन्नई, दूसरी सार्वजनिक वार्ता एवं प्रश्नोत्तर सभा,
३१ दिसंबर, १९८१

और इसी में उतरिए।

देशपांडे : 'सकल' (होलिस्टिक) शब्द में वास्तविकता शामिल रहती है। वास्तविकता अपने आप में संपूर्ण होती है।

कृष्णमूर्ति : नहीं, नहीं। आइए पहले इस 'सकल' शब्द का अर्थ समझ लें। सकल का, संपूर्ण का अर्थ है स्वस्थ, शारीरिक स्वास्थ्य। फिर इसका अर्थ है विवेकपूर्णता, मानसिक रूप से भी व शारीरिक रूप से भी, और उस में से प्रकट होती है पवित्रता। 'सकल' या 'संपूर्ण' शब्द में यह सब शामिल रहता है।

देशपांडे : यह बात पहली बार स्पष्ट हुई है।

कृष्णमूर्ति : जब आप अच्छे स्वास्थ्य में रहते हैं और आपका मस्तिष्क भावनात्मक रूप से व बौद्धिक रूप से विवेकपूर्ण रहता है, अविक्षिप्त रहता है—बिना किसी विकृति के, बिना किसी सिरफिरेपन के—तब वह पवित्र रहता है। यही होता है समूचेपन का दृष्टिकोण। यदि आपमें कुछ आड़ा-तिरछापन है, कोई सनक है, कोई विश्वास है तो सकलता नहीं है, संपूर्णता नहीं है—पहले इसे ही स्वच्छ कीजिए और तब तक सकलता की बात मत कीजिए। सकलता होती ही तब है जब विवेकपूर्णता हो, स्वास्थ्य हो।

सुनंदा : यहीं पहुंच कर दुविधा आती है। आप कहते हैं खंड से शुरु करो। किंतु जब तक कोई उस खंड को सकलता में न देख ले ...

कृष्णमूर्ति : सकलता की चिंता मत कीजिए।

सुनंदा : तो फिर कोई उस खंड को कैसे देखे? फिर कौन सा तरीका अपनाया जाए? पहले क्या हो?

कृष्णमूर्ति : मैं वह कर रहा हूं। मैं सकलता के बारे में कुछ भी नहीं जानता। मैं नहीं जानता। मैं उस शब्द का अर्थ जानता

हूं, उस शब्द का विवरण जानता हूं, यह क्या संप्रेषित करता है यह जानता हूं, किंतु तथ्य यह नहीं है। तथ्य यह है कि मैं एक खंड हूं, मैं अपने आप में खंड-खंड रूप में काम करता हूं, जीता हूं और क्रियाकलाप करता हूं। मैं इसके अलावा कुछ जानता ही नहीं हूं।

फिल्ज़ : यह बात हमें शुरुआती सवाल पर ले आती है। यहां बैठ कर चर्चा कर लेने के अलावा आपके कहे शब्द का अर्थ क्या रहता है? अपने दैनिक जीवन में, जो आप कहते हैं उसे याद रखना कि आप कभी आहत न हों, क्या मायने रखता है जब मैं आहत हो ही जाता हूं?

कृष्णमूर्ति : नहीं, मैं आहत हुआ हूं। यही मैं जानता हूं। यह एक तथ्य है। मैं आहत हुआ हूं क्योंकि मैंने अपने लिए एक छवि पाल रखी है। क्या अपनी छवि को मैंने स्वयं पहचान लिया है, जान लिया है, या 'के' ने मुझे बताया है कि मेरी छवि ही आहत हुई है। यह पता लगाना, जान लेना बहुत महत्वपूर्ण है। क्या ऐसा है कि विवरण ने, वर्णन ने वह छवि रच डाली है, या कि मैं जानता हूं कि उस छवि का वजूद पहले से ही है?

सुनंदा : व्यक्ति जानता है कि छवि पहले से ही है।

कृष्णमूर्ति : ठीक है। छवि यदि पहले से ही है तो मैं उस छवि से सरोकार रखता हूं, न कि इस बात से कि इस छवि से मुक्त कैसे होऊं, न कि इस बात से कि उस छवि को सकल रूप से कैसे देखूं। मैं इस बारे में कुछ भी नहीं जानता।

सुनंदा : 'छवि को देखना', इस अभिव्यक्ति में सकलता की अवधारणा शामिल प्रतीत होती है।

कृष्णमूर्ति : नहीं, मैं किसी ऐसी अवधारणा के बारे में कुछ नहीं जानता। मैं तो बस इतना जानता हूं कि मेरी एक छवि है।

में उस खंड के अलावा, 'जो है' के अलावा किसी और चीज़ के साथ नहीं रहूंगा—सकलता तो एक अ-तथ्य है।

सुनंदा : यह बात तो स्पष्ट हो गई। किंतु कोई इस बात को कैसे समझे—टेस को पूरी तरह से थामे रखना। प्रश्न तो यहीं से पैदा होता है।

पुपुल : यह उनका कहना है।

कृष्णमूर्ति : क्या?

सुनंदा व पुपुल : 'संपूर्णतः' ऐसा आपका कहना है।

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल। पर अब इसे बाहर फेंक दीजिए।

सुनंदा : फिर तो कोई समस्या ही नहीं रह जायेगी क्योंकि जब व्यक्ति टेस लगने के लक्षण देखता है और इसका अवलोकन करता है तो टेस का अवसान हो जाता है। यह प्रक्रिया जारी रहती है और मुझे इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'के' का इस बारे में क्या कहना है। यह सब अब मैं जान गई हूँ—किसी बात को उसकी आरंभिक अवस्था में ही देख लेना, चेतन मन में जो कुछ भी उभर रहा है उसे देख लेना। उसे देखना, अवलोकन करना और इससे उसका तिरोहित हो जाना।

अच्युत : यह परिचर्चा 'ऑथोरिटी' के बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न से आरंभ हुई थी। 'ऑथोरिटी' पर इस चर्चा की शुरुआत का मुद्दा यह है कि जब हम आपकी कही बात को 'ऑथोरिटी' मान लेते हैं तब वह एक बाधक बन जाती है।

कृष्णमूर्ति : साफ़ बात है।

देशपांडे : इसमें कहीं तो चूक हो रही है।

कृष्णमूर्ति : देखिए, इसमें से एक दिलचस्प बात निकल कर आ रही है। क्या आप सीख रहे हैं या इसमें एक अंतर्दृष्टि, एक

समझ उभर कर आयी है? सीखने में ऑथोरिटी शामिल रहती है। क्या आप सीख रहे हैं और सीख के अनुसार व्यवहार कर रहे हैं? मैं गणित, तकनीक इत्यादि विषयों को सीखता हूँ और उस ज्ञान से मैं इंजीनियर बन जाता हूँ और काम करता हूँ। या, खुले खेत में जाता हूँ, काम करता हूँ और सीखता हूँ। दोनों ही में ज्ञान का, जानकारी का संचय होता है और उस ज्ञान के अनुसार काम करना होता है—और ज्ञान ऑथोरिटी बन जाता है। चाहे आप ज्ञान संचित करें और फिर काम करें या बाहर निकलें, काम करें और सीखें। दोनों में ज्ञान के ही अनुसार आपका कार्य, आपका व्यवहार रहता है। इस प्रकार ज्ञान ऑथोरिटी बन जाता है, वह ऑथोरिटी चाहे किसी डाक्टर की, किसी वैज्ञानिक की, किसी वास्तुविद की हो या किसी गुरु की जो कहता है 'मैं जानता हूँ'—यही है उसकी ऑथोरिटी। फिर, कोई आता है और कहता है: 'देखो, ज्ञात की चारदीवारी में काम करते रहना तो एक जेल में रहना है; आप इससे कभी बाहर नहीं निकल पायेंगे, कभी स्वतंत्र नहीं हो पायेंगे, ज्ञान के सहारे आप कभी उठ नहीं पायेंगे।' और 'के' जैसा कोई कहता है: 'इसे नए ढंग से देखें, अपने कार्य को, व्यवहार को अंतर्दृष्टि के साथ देखें, न कि ज्ञान एकत्र करें और (तदनुसार) कार्य-व्यवहार करें, बल्कि अंतर्दृष्टि हो और फिर कार्य-व्यवहार हो। तब कोई ऑथोरिटी नहीं रहती।

पुपुल : आपने 'अंतर्दृष्टि' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है?

कृष्णमूर्ति : किसी चीज़ के भीतर देखना, किसी बात को तत्काल समझ लेना, उसका तत्काल बोध हो जाना, ध्यानपूर्वक सुनना। देखिए, आप सुनते नहीं हैं, यही मेरा मुद्दा है। आप कार्य-व्यवहार करते हैं किंतु सीखने के बाद, उस सीखने में जानकारियों का संचय होता है, ज्ञान और आप उस ज्ञात के

अनुसार कार्य-व्यवहार करते हैं—चाहे वह कुशलतापूर्वक हो या अकुशलतापूर्वक। यही है सीखना; ज्ञान का, जानकारियों का संचय करना और फिर तदनुसार काम करना। किंतु, एक होता है करना और उससे सीखना, जो कि पहले वाली ही बात है। दोनों ही ज्ञान के, ज्ञात के आधार पर काम करती हैं। इस प्रकार, वह ज्ञान ही ऑथोरिटी बन जाता है और जहां ऑथोरिटी हो वहां दमन भी अवश्य होगा। यह प्रक्रिया मशीनी हो जाती है, संवेदनशून्य हो जाती है और इससे आप कभी ऊपर नहीं उठ पायेंगे। क्या आप इन दोनों को मशीनी चलन की तरह देख रहे हैं? यदि आप ऐसा देख रहे हैं तो यही अंतर्दृष्टि है। इस देखने में आप ज्ञान व ज्ञात का सहारा नहीं ले रहे, बल्कि ज्ञान और ऑथोरिटी के निहितार्थों को देखकर काम कर रहे हैं। आपका यह करना एकदम भिन्न होता है।

तो हम हैं कहां? खुद को जानना और 'के' के शब्द। यदि ये साथ-साथ चलते हैं तो बात पूरी हो जाती है। यह बड़ी सीधी-सरल बात है। आप चलते चलें।

पुपुल : क्या 'के' के शब्द और उनके साथ चलना अनिवार्य है? क्या उन शब्दों के बिना भी 'आंखें खुलना' संभव है?

कृष्णमूर्ति : ठीक है, 'के' का कहना है : 'अपने लिए प्रकाश स्वयं बनो'। इसका यह अर्थ नहीं है आप ऑथोरिटी बन जाओ। 'के' का कहना है : 'कोई आपको वहां तक नहीं ले जा सकता, न ही आप उस अवस्था का आह्वान कर सकते हैं'। 'के' का कहना है : 'आप 'के' को भले ही आने वाले हजार वर्षों तक लगातार सुनते रहें किंतु केवल सुनने से आप उस अवस्था को पा नहीं सकते।' किंतु 'के' का यह भी कहना है : 'अपने लिए प्रकाश स्वयं बन जाएं तो फिर आप उस चीज़ को सकल व संपूर्णतः देख सकते हैं। खुद को जानना सबसे कठिन कामों में से

एक है क्योंकि स्वयं का अवलोकन करने में जो मैं देख रहा होता हूँ उसी से तो कोई निष्कर्ष निकालूंगा और अगला अवलोकन उसी निष्कर्ष में से निकलेगा। क्या कोई वास्तविक क्रोध का अवलोकन किसी निष्कर्ष के बिना, उसे सही या ग़लत, अच्छा या बुरा कहे बिना भी कर सकता है? क्या कोई सकल व संपूर्णतः भी अवलोकन कर सकता है? अपने बारे में जानकारी होना अपने को जानना नहीं होता, बल्कि अपने विचार की हर हरकत को जानना अपने को जानना है, क्योंकि मैं जो हूँ विचार ही तो हूँ, छवि ही तो हूँ—‘के’ की छवि, ‘मैं’ की छवि। इसलिए, अपने विचार की हर हरकत पर नज़र रखिए, एक भी विचार को देखे बिना, समझे बिना जाने मत दीजिए। प्रयोग कर देखिए। इसे कीजिए और देखिए क्या होता है। यह मन-मस्तिष्क को बल प्रदान करता है।

सुनंदा : क्या आपका यह कहना है कि एक अकेले विचार में व्यक्तित्व का, अहं का सार समाहित रहता है?

कृष्णमूर्ति : हां, मेरा उत्तर होगा ‘हां’। देखिए, विचार ही भय है, विचार ही विषय-सुख है, विचार ही दुख है। किंतु विचार प्रेम नहीं है। विचार करुणा भी नहीं है।

विचार ने जो छवि रची है वही ‘मैं’ या ‘मेरा’ होती है। ‘मैं’ छवि ही तो है। ‘मैं’ और छवि में कोई अंतर, कोई भेद नहीं होता। वह छवि मैं ही तो हूँ। तो, मैं उस छवि का अवलोकन कर रहा हूँ जो मैं ही हूँ और जो कह रही है कि ‘मैं निर्वाण प्राप्त करना चाहता हूँ’, जिसका अर्थ हुआ कि मैं लोभी हूँ, लोलुप हूँ। यही बात है। रुपया-पैसा चाहने के बजाय मैं कुछ और चाह रहा हूँ। यह लोलुपता ही तो है। अतः मैं लोलुपता का, लोभ का अध्यायन करने लगता हूँ। लोभ या लोलुपता क्या होती है? ‘और अधिक’? इसका अर्थ यह हुआ कि मैं ‘जो है’ को और अधिक

में तथा और बड़े में बदलना चाहता हूँ। इसीलिए इसे लोभ और लोलुपता कहा जाता है। तो मैं कहता हूँ : ‘किंतु मैं यह कर क्यों रहा हूँ?’ ‘मुझे और अधिक क्यों चाहिए?’ ‘क्या यह परंपरागत है, आदत है, या फिर मस्तिष्क की मशीनी क्रिया-प्रतिक्रिया है?’ मैं पता लगाना चाहता हूँ। या तो मैं एक नज़र में पता लगा लूंगा या मुझे कदम दर कदम बढ़ना होगा। यदि मेरा कोई हेतु नहीं है तो मैं यह सब एक नज़र में ही देख सकता हूँ क्योंकि हेतु हमेशा विकृति का कारक होता है। अपने आप को जानना सबसे अधिक दिलचस्प काम हो सकता है क्योंकि इसमें स्वयं आप सार्वभौम हो सकते हैं—किसी मत या सिद्धांत रूप में सावभौम नहीं बल्कि इस पृथ्वी पर सार्वभौम। मैं खुद को जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं साफ़ तौर पर देख रहा हूँ कि यदि मैं खुद को नहीं जानता हूँ तो जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह निरर्थक है, भ्रष्ट है, केवल शाब्दिक रूप से नहीं, बल्कि मैं देखता हूँ कि वह भ्रष्टाचार ही है। मेरा कार्य-व्यवहार भ्रष्ट है किंतु मैं एक भ्रष्ट जीवन जीना नहीं चाहता। मुझे दीखता है कि मुझे खुद को जानना चाहिए। खुद को जानने के लिए मैं ध्यानपूर्वक देखना शुरू करता हूँ, मैं आपके साथ, अपनी पत्नी या पति के साथ अपने संबंधों को ध्यानपूर्वक देखता हूँ। इस ध्यानपूर्वक देखने में मैं उस संबंध में स्वयं को प्रतिबिंबित होता पाता हूँ, अपनी ही प्रतिच्छाया पाता हूँ। मैं अपनी पत्नी को इसलिए चाहता हूँ क्योंकि मुझे सेक्स चाहिए, उससे मिलने वाली तमाम सुख-सुविधाएं चाहिए, वह मेरे बच्चों को पालती है, खाना बनाती है, मैं उस पर निर्भर रहता हूँ। तब मुझे पता चलता है कि उसके साथ अपने संबंध की तह में मूल कारण तो मेरा—विषय-सुख है,—मेरी आसक्ति है, मेरी सुख-सुविधा है, और ऐसा ही बहुत कुछ है। क्या यह सब मैं अतीत के चश्मे के बिना, किसी निष्कर्ष के बिना देख रहा हूँ? क्या मेरा यह अवलोकन यथातथ्य है? जैसे ही कोई कहता है: ‘अपना

दीपक आप बनो', तो सारी की सारी ऑथोरिटी तिरोहित हो जाती हैं, वह चाहे गीता की हो, गुरुओं की हो या आश्रमों की हो। यह बात अपने आप में बड़ी दिलचस्प, बड़ी कौतुहल वाली हो जायेगी। यदि मैं अपना प्रकाश स्वयं हूं, अपना दीपक आप हूं तो फिर राजनैतिक तौर पर, आर्थिक तौर पर, सामाजिक तौर पर मेरा संबंध क्या रहता है? किंतु आप ऐसे प्रश्न पूछते ही नहीं हैं। मैं अपना दीपक आप हूं—चलिए, इसका गहरे से अध्ययन करें : अपने लिए मैं स्वयं प्रकाश हूं। मैं इसे साफ़-साफ़ देख पा रहा हूं। मेरे लिए न कोई ऑथोरिटी है, न कोई मेरा मार्गदर्शक है। तो फिर मैं उत्पीड़न के बारे में, गुरुओं के और आश्रमों के उत्पीड़न के बारे में कैसे बर्ताव करता हूं? अपने लिए स्वयं प्रकाश होने का अर्थ है सकल होना, संपूर्ण होना। जो कुछ भी सकल नहीं है वह भ्रष्टाचार है। एक सकल व संपूर्ण व्यक्ति भ्रष्टाचार से कोई बर्ताव, कोई सरोकार नहीं रखेगा।

एक्सप्लोरेशन एंड इनसाइटस, अध्याय 9

स्वयं को कैसे जाना जा सकता है?

विचार की प्रकृति क्या है कि जब पूर्ण अवधान है तो वह मौन है और अनवधान में वह जागृत होता है? सजगता क्या है यह समझना होगा, नहीं तो ध्यान-अवधान के पूरे सार को समझा ही नहीं जा सकता।

क्या हममें सजगता का विचार है या हम सजग हैं? इसमें अंतर है। सजग होने का विचार और सजग होना। “सजगता” मतलब प्रकृति, मनुष्यों, रंगों, वृक्षों, वातावरण, समाज, सभी के प्रति संवेदनशील होना, सचेत होना, बाहरी और अंदरूनी तौर पर इस सब के प्रति पूरी तरह सजग होना। सजग होना ही संवेदनशील होना है—ध्यानपूर्वक देखने के लिए, जानने के लिए कि हमारे मन में भीतर क्या चल रहा है और बाहरी चीज़ों, परिस्थितियों, आर्थिक, सामाजिक और कई सारी स्थितियों में क्या हो रहा है। यदि कोई इस बात के प्रति सजग नहीं रहता है कि बाहर क्या घट रहा है और वह केवल भीतरी चीज़ों के प्रति ही सजग है तो वह विक्षिप्त हो जाता है। किंतु यदि विश्व में जो भी कुछ घट रहा है जहां तक संभव हो सके, जब उसके प्रति सचेत होते हैं और तब वहां से भीतर की ओर देखना शुरू करते हैं तब एक संतुलन बनता है। तब स्वयं को न छलने की संभावना बनती है। बाहरी स्तर पर जो कुछ चल रहा है उसको देखना शुरू होता है और फिर अवलोकन होता है अंदरूनी स्तर पर—जैसे कि ज्वार और भाटा, एक प्रकार की निरंतर गति है उसमें—ताकि वहां धोखे की गुंजाइश न रहे। यदि बाहरी घटनाओं के विषय में कोई जानता है और वहां से वह भीतर की ओर रुख करता है तो उसके पास मानदंड हैं।

कोई स्वयं को कैसे जाने? स्वयं को जानना एक बहुत ही जटिल संरचना है, बहुत ही कठिन गतिविधि है, कोई स्वयं को

कैसे जाने कि वह स्वयं को फिर छल न सके। स्वयं को औरों के साथ खुद के रिश्तों में ही समझा जा सकता है। औरों के साथ अपने संबंधों में कोई खुद को अलग कर सकता है क्योंकि वह आहत नहीं होना चाहता और संबंधों में यह खुलकर सामने आ सकता है कि वह कितना ईर्ष्यालु, आश्रित, अनुरक्त, और वास्तव में कितना संवेदनहीन, निर्दयी है। तो संबंध एक दर्पण की तरह है जिसमें हम अपने आपको देख-समझ सकते हैं। बाह्य तौर पर भी यही है; जो भी कुछ बाहर दीख रहा है वह हमारा ही प्रक्षेपण है, क्योंकि समाज, सरकारें, ये सब मनुष्यों द्वारा बनायी हुई हैं बिल्कुल वैसी जैसे कि वे स्वयं हैं।

सजगता क्या है इसे समझने के लिए व्यवस्था-अव्यवस्था क्या है इस प्रश्न में उतरना होगा। बाहरी तौर पर तो काफी अव्यवस्था, भ्रम और अनिश्चितता दिखायी देती है। यह अनिश्चितता, अव्यवस्था कैसे आयी; इसके लिए कौन जिम्मेदार है? क्या हम सब? इस बारे में स्पष्ट होने की ज़रूरत है कि इस बाह्य अव्यवस्था के लिये कहीं हम सब जिम्मेदार तो नहीं; या फिर यह कोई दैवी गड़बड़ी है जिससे दैवी व्यवस्था उपजेगी? अतः यदि कोई स्वयं को इस बाहरी गड़बड़ी के लिए जिम्मेदार महसूस करता है तब क्या वह अव्यवस्था उसकी अपनी ही अव्यवस्था का प्रक्षेपण नहीं है?

यह दिखायी देता है कि भीतरी अव्यवस्था ही बाहरी अव्यवस्था बनाती है। जब तक लोग स्वयं में व्यवस्था, जीने के ढंग में बदलाव नहीं ला पाते तब तक यह अव्यवस्था बनी ही रहेगी, सदैव। बाहरी अव्यवस्था को तो सरकार भी नियंत्रित करने का प्रयास कर सकती है; जिसकी पराकाष्ठा मार्क्सवाद का अधिनायकवाद है—जो कहते हैं कि आप नहीं जानते कि व्यवस्था क्या है वे जानते हैं और आपको इसके विषय में बतायेंगे और इसके लिए आपको मनोचिकित्सालयों और यातना शिविरों में

भेज दिया जाता है जहां आपका दमन किया जाता है, कैद में रखा जाता है और ऐसा ही बहुत कुछ चलता रहता है।

पूरी दुनिया एक दुर्व्यवस्था में जी रही है क्योंकि हम अव्यवस्थित हैं, हममें से हर एक। क्या हम अपने भीतर की अव्यवस्था को देख पा रहे हैं या फिर हमने इसकी भी एक धारणा बना डाली है? क्या आप अपनी दुर्व्यवस्था के प्रति सजग हैं या फिर एक सुझाया गया विचार मात्र है जिसे आप स्वीकार कर लेते हैं? किसी भी विचार की कल्पना रुकावट है, तथ्य से। कोई भी कल्पना तथ्य से सिर्फ पलायन मात्र है—तथा व्यक्ति विचारों में ही जीता है और तथ्य से दूर होता जाता है। क्या हम अव्यवस्था को लेकर बनी किसी धारणा को स्वीकार रहे हैं या फिर स्वयं के अव्यवस्थित होने के प्रति सजग हैं? क्या हम इन दोनों के अंतर को समझ रहे हैं? क्या हम बस सजग होने के लिये सजग हैं?

अव्यवस्था का किसी के लिए क्या अर्थ है? इसमें अंतर्विरोध है; सोचते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं। विपरीत इच्छाओं का अंतर्द्वंद्व, विपरीत मार्ग, अपने भीतर की विरोधी उठापटक—द्वैत। यह दुई कैसे उत्पन्न होती है? क्या यह किसी तथ्य को देख पाने में अक्षम होना ही नहीं है? या तो कोई 'जो है' से 'जो होना चाहिये' की तरफ दौड़ा चला जाये, किसी आशा, चमत्कार, दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रयास के द्वारा 'जो है' को 'जो होना चाहिये' में बदलने के लिये। यानी : क्रोध है और क्रोध नहीं 'होना चाहिये' है। अगर पता हो कि क्रोध के साथ कैसे व्यवहार किया जाये और उसके भी परे जा पायें तो इसकी कतई ज़रूरत नहीं रह जाती कि 'क्या होना चाहिये', जो कि 'क्रोधित नहीं होना चाहिये' है। अगर यह समझ सकें कि 'जो है' के साथ क्या किया जाये, तब 'क्या होना चाहिये' के लिये पलायन नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि 'जो है' के साथ करना क्या है यह पता नहीं है, किसी आदर्श को इस

आशा के साथ ईजाद करते हैं कि इस आदर्श बदलाव से 'जो है' को समझा जा सकता है। या चूंकि हम असमर्थ हैं और नहीं पता है कि क्या करना है, मस्तिष्क हमेशा भविष्य में ही जीने के लिये संस्कारित हो जाता है—'कुछ होने की उम्मीद में'। निश्चित ही हम बीते समय में रहते हैं लेकिन भविष्य में किसी प्रकार के आदर्श के लिये वर्तमान को बदलने की आशा करते हैं। यदि कोई यह देख सके कि 'जो है' के साथ क्या किया जाये तब भविष्य मुद्दा नहीं बनता। सवाल 'जो है' को स्वीकारने का नहीं, बल्कि 'जो है' के साथ टिके रहने का है।

हम यदि 'जो है' को देखते हैं और उससे भागते नहीं हैं तभी हम कुछ-कुछ समझ सकते हैं—उसे किसी और में बदलने का कोई भी प्रयास बेमानी है। क्या 'जो है' के साथ टिके रहना, अवलोकन करना, उसे देखना हो सकता है—बस इतना ही, और कुछ नहीं। मैं 'जो है' को देखना चाहता हूं। मुझे एहसास है कि मैं लालची हूं लेकिन इससे कुछ नहीं होता। लालच एक एहसास है और मैं इस एहसास को लालच नाम दे देता हूं। शब्द स्वयं वस्तु नहीं होते; लेकिन मैं गलती से शब्द को ही वस्तु न समझ बैठूं। ऐसा हो सकता है कि मैं शब्दजाल में फंस जाऊं किंतु तथ्य में नहीं—तथ्य यह है कि मैं लालची हूं। यह बहुत पेचीदा मामला है, शब्द उन भावनाओं को उकसा, सकते हैं। क्या मस्तिष्क शब्दों से मुक्त हो सकता है और देख सकता है। मेरे जीवन में शब्द मेरे लिये इतने महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। क्या मैं शब्दों का गुलाम बन कर रह गया हूं?—यह जानते हुए भी कि शब्द वस्तु नहीं हैं। क्या शब्द इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि मेरे लिये तथ्य असली, वास्तविक नहीं रह गये हैं? मैं पहाड़ पर जाने और उसे देखने के बजाय पहाड़ के चित्र को देखता हूं; पहाड़ को देखने के लिये मुझे उस लंबी दूरी को तय करना होगा, चढ़ना होगा, देखना व महसूस करना होगा। चित्र में पहाड़ को देखना तो उसके प्रतीक को देखना है, जो कि सच्चाई नहीं है। क्या मैं शब्दों में फंस गया

हूं, जो कि सिर्फ चिह्न हैं, प्रतीक हैं, जिससे हम वास्तविकता से कहीं दूर चले जाते हैं? क्या शब्द लालच के एहसास को बनाते हैं?—या लालच है पर शब्दों के बिना? इसके लिये बहुत ही अनुशासन, अभ्यास चाहिये न कि दबाव। जांच-परख का अपना ही अनुशासन होता है। तो मुझे बहुत ही सावधानीपूर्वक यह पता लगाना होगा कि क्या शब्द ने एहसास को उभारा है या फिर एहसास की मौजूदगी शब्द के बिना भी है। लालच शब्द है, मैंने यह संज्ञा दी जब मुझे पिछली बार इसकी अनुभूति हुई और अब मैं ताज़ा एहसास को दर्ज कर रहा हूं उसी प्रकार की पुरानी बीती हुई घटना की तरह। तो वर्तमान बीते हुए कल में डूब जाता है, खो जाता है।

तब मुझे समझ में आता है कि मैं क्या कर रहा हूं। मैं सजग हो उठता हूं कि शब्द मेरे लिये कितने महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। अतः लालच, ईर्ष्या और राष्ट्रीयता, साम्यवादी, सामाजिक और जाने क्या-क्या—इन सबसे हम स्वतंत्र हैं क्या? क्या शब्द से मुक्ति है। शब्द अतीत है। एहसास वर्तमान है जो अतीत के शब्दों द्वारा मान्यता प्राप्त है, तो मैं सदैव ही अतीत में जीता हूं। मैं अतीत ही हूं। अतीत समय है; अतः मैं समय हूं। मैं कहता है : “मुझे क्रोधित नहीं होना चाहिये क्योंकि मेरे संस्कार ऐसा कहते हैं : लालची मत बनो, क्रोध न करो।” अतीत वर्तमान को बता रहा है कि क्या करना चाहिये। इसलिये द्वंद्व है क्योंकि मूलतः, बहुत गहरे अतीत ही वर्तमान को बताता है कि उसे क्या करना चाहिये। मैं जो कि अतीत, बीता हुआ कल है, तमाम विगत स्मृतियों, अनुभवों, ज्ञान, विचार द्वारा रचित वस्तु, वह ‘मैं’ निर्देशित कर रहा है क्या होना चाहिये।

अब, क्या मैं लालच के सत्य को अतीत के बगैर देख सकता हूं। क्या बगैर नाम दिये लोभ को देखना हो सकता है, बिना शब्दों में जकड़े, यह जानते समझते हुए कि शब्द संवेदना का निर्माण कर सकता है और यदि शब्द संवेदना का निर्माण कर

रहा है तब वह शब्द 'मैं' ही है, जो कि अतीत है व कह रहा है कि 'लालची मत बनो'? क्या 'जो है' को देख पाना संभव है बिना मैं के—जो कि अवलोकनकर्ता है? क्या मैं लोभ का अवलोकन कर सकता हूँ, संवेदना का, इसके परितोष और कर्म-व्यवहार का, बगैर अवलोकनकर्ता के जो कि अतीत है?

'जो है' को केवल तभी देखा जा सकता है जब मैं नहीं रहता है। क्या कोई अपने आस-पास विद्यमान तरह-तरह के रंग-रूप का अवलोकन कर सकता है? वह अवलोकन कैसे होता है? आंखों से देखना, अवलोकन करना होता है। बगैर आंख घुमाये देखना; क्योंकि यदि आंख घुमायी जाती है तो विचार की सारी की सारी प्रक्रिया मस्तिष्क में शुरू हो जाती है। जिस पल मस्तिष्क क्रिया-कलाप में लगता है उसी पल से विघटन शुरू हो जाता है। बगैर आंख घुमाये किसी वस्तु की ओर देखने से मस्तिष्क कैसे शांत होता चला जाता है। केवल आंखों से ही नहीं बल्कि पूरी सावधानी से, स्नेह से अवलोकन करना। तभी वास्तविकता का, विचार का नहीं, बल्कि तथ्य का अवलोकन होता है—पूरे ध्यान और स्नेह के साथ। 'जो है' के प्रति पूरी सावधानी, पूरे प्रेम के साथ ठहरना होता है; तब वहां कोई मत-धारणा, निंदा नहीं रह जाती; अतः विपरीतों से, द्वैत से मुक्ति होती है।

जे. कृष्णमूर्ति, दूसरी सार्वजनिक वार्ता, ब्रॉकवुड पार्क,
सितंबर १ १९७७,
द होलनेस ऑफ लाइफ भाग २ अध्याय १६

अंतर्राष्ट्रीय कार्यशाला

राजघाट स्टडी सेंटर के प्रांगण में दिनांक २७ से २६ दिसंबर तक एक अंतर्राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है। इस कार्यशाला का विषय “वैज्ञानिक और धार्मिक मन” है। इसके मुख्य वक्ता भौतिकी और अनेक धर्मों के विद्वान और गंभीर विचारक प्रो. रवि रविन्द्र होंगे। इस संबंध में अधिक जानकारी व रजिस्ट्रेशन के लिये आप राजघाट स्टडी सेंटर को संपर्क कर सकते हैं।

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् १९६८ के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् १९६८ के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

कृष्णमूर्ति की परिचयात्मक पुस्तकें :

१. ज्ञात से मुक्ति	रु. ३०.००
२. ध्यान	रु. ४०.००
३. हिंसा से परे	रु. ८०.००
४. गरुड़ की उड़ान	रु. ७०.००
५. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (सजिल्द द्विभाषी संस्करण)	रु. ५००.००
६. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (पेपरबैक)	रु. १७५.००
७. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु. १००.००
८. अन्तिम वार्ताएँ	रु. ७०.००
९. आपको अपने जीवन में क्या करना है	रु. १७५.००

शिक्षा संबंधी पुस्तकें :

१. शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु. ६०.००
२. शिक्षा संवाद	रु. ८०.००
३. स्कूलों के नाम पत्र	रु. ६०.००
४. स्कूलों को पत्र भाग-२	रु. ४०.००
५. शिक्षा क्या है?	रु. १७५.००
६. संस्कृति का प्रश्न	रु. ५०.००

कृष्णमूर्ति का स्वयं का लेखन :

१. जीवन भाष्य-I	रु. ७०.००
२. जीवन भाष्य-II	रु. १२०.००
३. जीवन भाष्य-III	रु. १४०.००

थीम बुक्स :

१. जीवन और मृत्यु	रु. १२५.००
२. ईश्वर क्या है?	रु. १२५.००
३. ध्यान	रु. १२५.००
४. सोच क्या है?	रु. १२५.००

पुस्तिकाएँ :

५. मृत्यु और उसके बाद	रु. ४०.००
६. वाशिंगटन वार्ताएँ	रु. २५.००
७. सुखी वही जो कुछ नहीं है	रु. २०.००
८. सीखने की कला	रु. १५.००
९. आन्तरिक प्रस्फुटन	रु. १०.००
१०. जीवन की पुस्तक	रु. १०.००
११. प्रेम : स्वयं से एक संलाप	रु. १०.००
१२. सत्य एक पथहीन भूमि है	रु. १०.००
१३. स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु. १०.००
१४. ध्यान में मन	रु. १०.००
१५. परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है	रु. ५.००

हिन्दी डी.वी.डी.

“बुनियादी बदलाव : एक चुनौती”	रु. २००.००
------------------------------	------------

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१

ईमेल: kcentrevns@gmail.com फोन: ०५४२-२४४१२८६, २४४०४५३

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-१/२०८ के-१, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी २२१ ००२ से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया राजघाट फोर्ट, वाराणसी २२१ ००१ (उ.प्र.) से

संपादक : विजय छाबड़ा